P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-3* ISSUE-9*(Part-2) December- 2018
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

सामाजिक अनुसंधान में शोध–प्ररचनाएँ

हरबीर सिंह डागुर
सहायक आचार्य,
राजनीति विज्ञान विभाग,
महारानी श्री जया राजकीय महाविद्यालय,
भरतपुर, राजस्थान, भारत

सारांश

प्रत्येक सामाजिक शोध के कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं और उन उद्देश्यों की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि योजनाबद्ध रूप में शोध–कार्य को आरम्भ नहीं किया गया है। इसी योजना की रूपरेखा को शोध–प्ररचना कहते हैं। इसका तात्पर्य यही हुआ कि एक सामाजिक शोध की समस्या या उप–कल्पना जिस प्रकार की होगी, उसी के अनुसार शोध–प्ररचना का निर्माण किया जाता है जिससे कि शोध–कार्य को एक निश्चित दिशा प्राप्त हो सके और शोधकर्ता इधर–उधर भटकने से बच आए। पर इस सम्बन्ध में और कुछ लिखने से पूर्व शोध–प्ररचना के अर्थ को और भी स्पष्ट रूप में समझ लेना हमारे लिए उपयोगी सिद्ध होगा। जैसा कि पहले ही कहा गया है कि कोई भी सामाजिक शोध बिना किसी लक्ष्य या उद्देश्य के नहीं होता है। इस उद्देश्य या लक्ष्य का विकास और स्पष्टीकरण शोध–कार्य के दौरान नहीं होता, अपितु वास्तविक अध्ययन आरम्भ होने से पूर्व ही इसका निर्धारण कर लिया जाता है। शोध के उद्देश्य के आधार पर अध्ययन–विषय के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करने के लिए पहले से ही बनाई गई योजना की रूपरेखा को शोध–प्ररचनाएँ कहते हैं। श्री ऐकॉफ ने प्ररचना का अर्थ समझते हुए लिखा है कि ''निर्णय क्रियान्वित करने की स्थिति आने से पूर्व ही निर्णय निर्धारित करने की प्रक्रिया को प्ररचना कहते है।''[1] इस दृष्टिकोण से, उद्देश्य की प्राप्ति के पूर्व ही उद्देश्य का निर्धारण करके शोध–कार्य की जो रूपरेखा बना ली जाती है उसे शोध–प्ररचना कहते है।

मुख्य शब्द : अनुसंधान, प्ररचना, शोध, अन्तर्निहित, आधारभूत, प्राक्कल्पना, अन्वेषणात्मक, वर्णनात्मक, साक्षात्कार, निरीक्षण, तथ्य संकलन, वर्गीकरण, सारणीयन, अतिरंजना, निदानात्मक, परीक्षणात्मक, औद्योगीकरण, भविष्यवाणी।

प्रस्तावना

जब यह शोध–कार्य किसी सामाजिक घटना से सम्बद्ध होता है तो वह सामाजिक शोध की प्ररचना कहलाता है। अतः यह स्पष्ट है कि सामाजिक शोध–प्ररचना के अनेक प्रकार हैं और शोधकर्ता अपने उदेश्यों की प्राप्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समझकर इनमें से किसी एक प्रकार को चुन लेता है और वह कौन–सा प्रकार है यह मालूम होते ही शोध–कार्य की प्रकृति व लक्ष्य स्पष्ट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमें यह ज्ञात हो जाए कि कोई शोध–प्ररचना अन्वेषणात्मक है तो स्वतः ही यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी सामाजिक घटना के अन्तर्निहित कारणों की खोज करना ही उस शोध का उद्देश्य है। इसी प्रकार शोध–कार्य तथ्यों का विवरण मात्र होगा, अथवा नवीन नियमों को प्रतिपादित किया जाएगा अथवा उस शोध–कार्य में परीक्षण व प्रयोग का अधिक महत्व होगा, इन सब बातों को ध्यान में रखकर शोध–कार्य आरम्भ करने से पूर्व जो एक रूपरेखा बनाई जाती है उसी को शोध–प्ररचना कहते हैं।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शोध–कार्य के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए उसे एक निश्चित प्रकार के अन्तर्गत लाने के लिए तथा शोध–कार्य में उपस्थित होने वाली स्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए शोध की जो रूपरेखा बनाई जाती है उसी को शोध–प्ररचना कहते हैं।[2]

शोध–प्ररचना के प्रकार

समस्त शोधों का एक ही आधारभूत उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति है। पर इस उद्देश्य की पूर्ति विभिन्न प्रकार से हो सकती है और उसी के अनुसार शोध–प्ररचना का रूप भी अलग–अलग हो सकता है। शोध–प्ररचना निम्नलिखित चार प्रकार की होती हैः–

अन्वेषणात्मक अथवा निरूपणात्मक शोध–प्ररचना

जब किसी शोध–कार्य का उद्देश्य किन्हीं सामाजिक घटना में अन्तर्निहित कारणों को ढूँढ़ निकालना होता है तो उससे सम्बद्ध रूपरेखा को

अन्वेषणात्मक शोध–प्ररचना कहते हैं। इस प्रकार की शोध प्ररचना में शोध–कार्य की रूपरेखा इस ढंग से प्रस्तुत की जाती है कि घटना की प्रकृति व धारा–प्रवाहों की वास्तविकताओं की खोज की जा सके। समस्या या विषय के चुनाव के पश्चात् प्राकल्पना का सफलतापूर्वक निर्माण करने के लिए इस प्रकार की प्ररचना का बहुत महत्व है क्योंकि इसकी सहायता से हमारे लिए विषय का कार्य–कारण सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। मान लीजिए हमें किसी विशेष सामाजिक परिस्थिति में तलाक–प्राप्त व्यक्तियों में व्याप्त किसी व्यभिचार के विषय में अध्ययन करना है तो उसके लिए सबसे पहले उन कारकों का ज्ञान आवश्यक है जो कि उस प्रकार के व्यभिचार को उत्पन्न करते हैं। अन्वेषणात्मक शोध–प्ररचना इन्हीं कारकों को खोज निकालने की एक योजना बन सकती है। इसी प्रकार कभी–कभी समस्या के चुनाव और शोध–कार्य के लिए उसकी उपयुक्तता के सन्बन्ध में हमें अन्य किसी स्रोत से कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता है। उस अवस्था में अन्वेषणात्मक शोध–प्ररचना की सहायता से हमें पर्याप्त सहायता मिल सकती है।[3]

इस प्रकार की शोध–प्ररचना की सफलता के लिए कुछ अनिवार्यताओं का पालन करना होता है–

(अ) सम्बद्ध साहित्य का अध्ययन इस दिशा में प्रथम अनिवार्यता है क्योंकि इसके बिना विषय के सम्बन्ध में कोई भी आरम्भिक ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकता। बिना किसी सैद्धान्तिक आधार के शोध–कार्य में अग्रसर होना अन्धकार में निशाना दागने के समान होगा। अतः सम्बद्ध साहित्य का अध्ययन करके विषय की प्रकृति के बारे में सामान्य ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होता है।

(ब) अनुभव–सर्वेक्षण इस दिशा में दूसरी आवश्यकता है। हमारे लिए यह भी आवश्यक हो जाता है कि हम उन सभी व्यक्तियों से अपना सम्पर्क स्थापित करें जिनके विषय में हमें यह सूचना मिले कि शोध–विषय के सम्बन्ध में उनकों पर्याप्त अनुभव या ज्ञान है–पर अशिक्षा, अवसर का अभाव या अन्य किसी कारण से वे अपने अनुभव–ज्ञान को लिखित स्वरूप दे नहीं सके हैं। ऐसे लोगों का व्यावहारिक अनुभव हमारे लिए पथपदर्शक का कार्य कर सकता है। अतः इनसे लाभ न उठाने की विलासिता एक गम्भीर शोधकर्ता कदापि नहीं कर सकता। इसलिए सूचनादाताओं का चुनाव इस ढंग से करना चाहिए कि विषय या समस्या के सम्बन्ध में अनुभव व ज्ञान रखने वाले सम्भावित सभी व्यक्ति उस चुनाव में आ जाएँ, चाहे वे समस्या के क्षेत्र में कार्य करने वाले उतरदायी अधिकारी हों या कर्मचारी हों अथवा समस्या को विभिन्न दृष्टि–कोणों से देखने वाले आलोचक हों या समर्थक हों। ऐसा करने से ही विषय के कारणों की खोज वास्तविक रूप में हो सकेगी।

(स) मिथ्या–झुकाव आदि से सुरक्षा इस दिशा में तीसरी महत्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बात है। चूँकि इस प्रकार के शोध में विषय के वर्णनात्मक पक्ष पर बल दिया जाता है, अतः पक्षपात, मिथ्या–झुकाव पूर्व–धारणा आदि के वर्णनात्मक विवरण में प्रवेश कर जाने की सम्भावना अधिक रहती है। अपने वर्णन को अधिक रोचक तथा आकर्षक बनाने का लोभ संभालना प्रायः बहुत कठिन हो सकता है और शोधकर्ता के वर्णन में अतिशयोक्ति या अतिरंजना का पुट सरलता से देखने को मिलता है। अतः हर प्रकार की स्थिति से बचने की आवश्यकता है।

(द) विशिष्ट व आकर्षक तथ्यों के सम्बन्ध में भी अति संतुलित दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता है। वर्णनात्मक विवरण को एक 'साधारण' रूप प्रदान करने के लिए प्रायः शोधकर्ता अपना ध्यान आकर्षक व विशिष्ट तथ्यों पर अधिक केन्द्रित कर सकते हैं। पर यह 'प्रवृति' वैज्ञानिक प्रवृति नहीं हो सकती। वर्णनात्मक शोध–कार्य के व्यय में मितव्ययिता करने की भी आवश्यकता होती है। वर्णनात्मक शोध–कार्य प्रायः विस्तृत होते हैं; अतः यह जरूरी है कि शोध–प्रयत्न को सीमित किया जाए। अनावश्यक मदों पर न तो श्रम और न ही धन को बर्बाद करना उचित होता है।

वर्णनात्मक शोध में निम्नलिखित चरण आते हैं–

(क) शोध के उदेश्यों का निरूपण वर्णनात्मक शोध का प्रथम चरण होता है जिसके अन्तर्गत शोध से सम्बद्ध मौलिक प्रश्नों का स्पष्टीकरण तथा लक्ष्यों की परिभाषित करना सम्मिलित होता है जिससे कि अनावश्यक व असम्बद्ध तथ्यों का संकलन न हो तथा श्रम व धन की बर्बादी से बचा जा सके।

(ख) उदेष्यों को स्पष्ट करने के पश्चात् यह आवश्यक है कि तथ्य–संकलन की प्रविधियों का चुनाव उचित ढंग से कर लिया जाए क्योंकि यह चुनाव ठीक प्रकार से किए बिना विषय से सम्बद्ध निर्भरयोग्य तथ्यों, ऑकड़ों अथवा प्रमाणों को एकत्रित करने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। भिन्न–भिन्न शोध–पद्धतियों को एकत्रित करने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। भिन्न–भिन्न शोध–पद्धतियों के अपने–अपने गुण हैं। समस्या तथा उद्देश्य के अनुसार हम कितनी उपयुक्त पद्धति का चुनाव करने में सफल होते हैं, इस बात पर सम्पूर्ण शोध–कार्य की सफलता निर्भर करती है।

(ग) निर्देशनों का चुनाव इस दिशा में तीसरा आवश्यक चरण है क्योंकि समूह के प्रत्येक सदस्य या विषय की प्रत्येक इकाई का अध्ययन करना अत्यन्त कठिन है। अतः निर्देशनों का चुनाव अर्थात सम्पूर्ण जनसंख्या की कुछ प्रतिनिधि इकाईयों का अध्ययन उपयोगी सिद्ध हो सकता है क्योंकि इस प्रकार के अध्ययन के आधार पर सम्पूर्ण जनसंख्या के विषय में विश्वसनीय निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इन प्रतिनिधि इकाईयों के चुनाव में भी मिथ्या–झुकाव से बचने की आवश्यकता है।

(घ) आँकड़ों का संकलन तथा उनकी जॉच इस दिशा में चौथा चरण माना जाता है। निर्देशनों के चुनाव के उपरान्त यह आवश्यक हो जाता है कि वैज्ञानिक प्रतिनिधियों की सहायता से आवश्यक आँकड़ों का न

केवल संकलन ही किया जाए अपितु उनकी जाँच भी उचित ढंग से हो ताकि वर्णनात्मक विवरण में अनावश्यक बातों का समावेश न हो सके। वास्तविकता तो यह है कि साक्षात्कारकर्ता अथवा निरीक्षणकर्ता की ईमानदारी तथा परिश्रम पर शुद्ध तथा यथार्थ सूचनाएँ एकत्र की जा सकती हैं। अतः सामग्री–संकलन के समय भी कार्य–कर्ताओं पर नियमित रूप से निगरानी रखनी चाहिए।

(ड) परिणामों का विश्लेषण इस दिशा में पंचम चरण है और इसका अर्थ है जिन आँकड़ों अथवा तथ्यों का संकलन किया गया है उनका समानता या भिन्नता के आधार पर विभिन्न समूहों में वर्गीकरण, सारणियन तथा अन्य सांख्यिकीय विवेचना । शुद्धता तथा प्रशिक्षण इस कार्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं। अतः इस स्तर पर अत्यन्त निगरानी रखने की आवश्यकता रहती है।

(च) अन्तिम स्तर पर रिपोर्ट का प्रस्तुतीकरण आता है जिसमें शोध–विषय के सम्बन्ध में तथ्ययुक्त विवरण तथा सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाता हैं इस स्तर पर भाषा के प्रयोग पर विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है क्योंकि अत्यधिक अलंकारयुक्त भाषा से विषय के विवरण में अतिरंजना पनप सकती है और उसका विभिन्न लोगों के द्वारा विभिन्न अर्थ लगाए जाने का भी डर रहता है। इन समस्त चरणों से सफलतापूर्वक गुजरने के पश्चात् ही वर्णनात्मक शोध–कार्य अपने उदेश्य की पूर्ति कर सकता है।[4]

निदानात्मक शोध–प्ररचना

शोध–कार्य का मूलभूत उदेश्य केवल ज्ञान की प्राप्ति तथा ज्ञान की वृद्धि है। पर यह भी हो सकता है कि शोध–कार्य का उदेश्य किसी समस्या के कारणों के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके उस समस्या के समाधानों को भी प्रस्तुत करना हो। इसी प्रकार की शोध–प्ररचना को निदानात्मक शोध–प्ररचना कहते हैं। अर्थात् विशिष्ट सामाजिक समस्या के निदान की खोज करने वाले शोध–कार्य को निदानात्मक शोध कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से स्मरणीय है कि इस प्रकार के शोध में शोध–कर्ता समस्या का हल प्रस्तुत करता है, न कि स्वयं उस समस्या को हल करने के प्रयास में जुट जाता है, समस्या को हल करना समाज–सुधारक, प्रशासक तथा नेताओं का काम होता है, शोधकर्ता केवल वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा समस्या के कारणों को जाने लेने के बाद उसका उचित समाधान किस ढंग से सर्वोतम रूप में हो सकता है इस बात की खोज करता है। इसीलिए निदानात्मक शोध–कार्य में समस्या का पूर्ण एवं विस्तृत अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से करके समस्या की गहराई में पहुँचने का प्रयास किया जाता है जिससे कि समस्या के प्रत्येक सम्भावित कारण का पता ठीक ढंग से लग सके। इस प्रकार समस्या के कारणों का ज्ञान सर्वप्रथम है, उसके निदानों की खोज उसके बाद की बात है। इस प्रकार की खोज इस कारण की जाती है क्योंकि समस्या–विशेष का हल तत्काल ही करने की आवश्यकता होती है। सम्भावित हल को ध्यान में रखते हुए इसीलिए प्राक्कल्पना का निर्माण किया जाता है जिससे कि अध्ययन कार्य वैज्ञानिक ढंग से किया जा सके।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर निदानात्मक शोध की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता हैः–

1. निदानात्मक शोध–कार्य वैज्ञानिक पद्धति का निश्चित रूप से अनुसरण करता है जिसका कि प्रथम चरण प्राक्कल्पना का निर्माण और उसी के आधार पर अध्ययन का संचालन है।
2. निदानात्मक शोध–कार्य की आवश्यकता सामाजिक व्यवस्था व सामाजिक सम्बन्धों से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं को तत्काल दूर करने या उपचार की खोज करने से सम्बद्ध होती है।
3. निदानात्मक शोध में सर्वप्रथम वैज्ञानिक ढंग से समस्या के कारणों का सही रूप में पता करने का प्रयत्न किया जाता है क्योंकि यह माना जाता है कि वास्तविक कारणों के सम्बन्ध में उचित व पर्याप्त ज्ञान के बिना आवश्यक समाधान की खोज असम्भव है।
4. निदानात्मक शोध किसी विशिष्ट सामाजिक समस्या के निदान की खोज से सम्बद्ध होता है। अर्थात केवल शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति करना ही इसका उदेश्य नहीं होता, अपितु उसके हल को भी ढूँढ़ना इसका काम होता है।
5. निदानात्मक शोधकर्ता समस्या का समाधान ढूँढ़ता अवश्य हैं, पर उस समस्या को हल करना उसका काम नहीं होता। वह तो वैज्ञानिक तौर पर केवल रास्ता वता देता है, उस रास्ते पर चलकर समस्या को सुलझाना समाज–सुधारक, प्रशासक आदि का काम होता है।

उपर्युक्त विवेचना से वर्णनात्मक तथा निदानात्मक शोध में अन्तर स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। इसको हम फिर इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–

(अ) वर्णनात्मक शोध का सम्बन्ध समस्या या विषय जिस रूप में है, उसी से होता है जबकि निदानात्मक शोध का सम्बन्ध किसी सामाजिक समस्या से ही होता है। इस अर्थ में निदानात्मक शोध केवल समस्याओं का ही अध्ययन करता है जबकि वर्णनात्मक शोध किसी भी सामाजिक घटना का, जिसमें सामाजिक समस्या भी आ जाती है, अध्ययन करता है।

(ब) वर्णनात्मक शोध का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध समस्या के समाधान से नहीं होता है, जबकि निदानात्मक शोध में निदान की ही खोज कि जाती है।

(स) वर्णनात्मक अध्ययन में घटना के कारणों को तथ्ययुक्त वर्णन प्रस्तुत करने के हेतू ढूँढ़ा जाता है, पर निदानात्मक शोध में समाधान ढूँढ़ने के उद्देश्य से कारणों को जानने का प्रयत्न किया जाता है।

(द) वर्णनात्मक शोध में विषय का अध्ययन कर ज्ञान की प्राप्ति स्वयं साध्य है जबकि निदानात्मक शोध में ज्ञान की प्राप्ति उपचार ढूँढ़ने का एक साधन बन जाती है।

परीक्षणात्मक शोध–प्ररचना

भौतिक विज्ञानों की भॉति समाजशास्त्र भी अपने शोध–कार्यों में परीक्षण–प्रणाली का उपयोग कर अधिकाधिक यथार्थता लाने का प्रयत्न कर रहा है। भौतिक विज्ञानों में जिस भाँति कुछ निश्चित नियंत्रित अवस्थाओं में रखकर विषय का अध्ययन किया जाता है उसी प्रकार नियंत्रित दशाओं में रखकर निरीक्षण–परीक्षण के द्वारा सामाजिक घटनाओं का व्यवस्थित अध्ययन करने की रूपरेखा को परीक्षणात्मक शोध–प्ररचना कहते हैं। श्री चैपिन ने लिखा है, ''समाजशास्त्रीय शोध में परीक्षणात्मक प्ररचना की अवधारणा नियंत्रण की दशाओं के अन्तर्गत निरीक्षण द्वारा मानवीय सम्बन्धों के व्यवस्थित अध्ययन की और संकेत करती है।''[5] और भी संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रयोगशाला–पद्धति के द्वारा विषय का अध्ययन परीक्षणात्मक शोध का ही दूसरा नाम है।

परीक्षणात्मक शोध तीन प्रकार के होते हैं–[6]

(अ) पश्चात् परीक्षण इसके अन्तर्गत सभी दृष्टि से प्रायः समान विशेषताओं व प्रकृति वाले दो समूहों को चुन लिया जाता है जिनमें से एक समूह नियंत्रित समूह और दूसरा परीक्षणात्मक समूह कहलाता है। नियंत्रित समूह में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाया जाता है, जबकि परीक्षणात्मक समूह में किसी एक कारक के द्वारा परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार यदि प्रथम समूह दूसरे समूह से भिन्न हो जाता है तो उसी कारक को उस परिवर्तन का कारण मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ, दो समान समूहों में से एक समूह में, जिसे परीक्षणात्मक समूह माना गया है, सह–शिक्षा का प्रसार किया जाए। कुछ समय के पश्चात् उस समूह की तुलना दूसरे से की जाए। यदि दोनों में कुछ अन्तर (जैसे प्रेम–विवाह की अधिक घटनाएँ) देखने को मिलता है तो वह सह–शिक्षा के कारण समझा जाएगा।

(ब) पूर्व–पश्चात् परीक्षण – इसके अन्तर्गत अध्ययन के लिए केवल एक ही समूह का चुनाव किया जाता है और उसी का अध्ययन एक अवस्था–विशेष के पहले और बाद को किया जाता है। इन दोनों अध्ययनों एक अवस्था–विशेष के पहले और उसे परिवर्तित परिस्थिति का परिणाम मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ, संयुक्त परिवार प्रणाली का अध्ययन औद्योगीकरण के पूर्व और फिर औद्योगीकरण के पश्चात् किया जाता है और यदि इन दोनों अध्ययनों की तुलना से यह पता चले कि औद्योगीकरण से पूर्व संयुक्त परिवार संगठित अवस्था में था जबकि औद्योगीकरण के पश्चात् उसमें विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गई तो संयुक्त परिवार के विघटन को औद्योगीकरण का परिणाम मान लिया जाएगा।[7]

(स) कार्यान्तर–तथ्य परीक्षण– इस प्रकार का परीक्षण किसी ऐतिहासिक घटना का अध्ययन करने के लिए किया जाता है। पर ऐतिहासिक घटनाओं को दोहराना शोधकर्ता के वश में नहीं होता। अतः वह दो समूहों का चुनाव करता है जिसमें से एक में वह घटना (जिसका कि अध्ययन उसे करना है) घटित हो चुकी है जबकि दूसरे में नहीं। इन दोनों समूहों की पुरानी परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि जिस समूह में घटना घटित हुई है वह किन कारणों से हुई है। संक्षेप में, ऐतिहासिक घटना–भक्तों का परीक्षण कर वर्तमान घटनाओं या अवस्थाओं के कारणों की खोज कार्यान्तर–तथ्य परीक्षण कहलाता है।[8]

प्रयोगसिद्ध शोध तथा सामाजिक सिद्धान्त में सम्बन्ध

प्रायः यह समझा जाता है कि प्रयोगसिद्ध शोध का कोई भी सम्बन्ध सामाजिक सिद्धान्तों के साथ नहीं है क्योंकि सिद्धान्त को काल्पनिक विचार समस्त बैठने की गलती लोग कर बैठते हैं। अतः सिद्धान्त तब तक काल्पनिक बना रहता है जब तक उसे प्रमाणित न किया जाए। प्रमाणित हो जाने के बाद सिद्धान्त ही प्रयोगसिद्ध शोध का एक अंग बन जाता है। इस प्रकार, इस सम्बन्ध में दूसरी गलत धारणा यह है कि विज्ञान का सम्बन्ध केवल तथ्यों से ही है और चूँकि सिद्धान्त तथ्य नहीं है अतः उसका सम्बन्ध केवल दर्शन से है, न कि प्रयोगसिद्ध शोध से; क्योंकि सामाजिक शोध विज्ञान है। पर ये सभी गलत धारणाएँ हैं। इस सम्बन्ध में सर्वश्री गुड तथा हॉट का कथन है कि

1. सिद्धान्त तथा तथ्य एक–दूसरे के बिल्कुल विपरीत नहीं होता है; अपितु एक–दूसरे में समाये हुए हैं;
2. सिद्धान्त केवल काल्पनिक विचार नहीं होता है; और
3. वैज्ञानिकों का सम्बन्ध सिद्धान्त तथा तथ्य दोनों से ही होता है।[9]

इन सब का एकमात्र कारण यह है कि वैज्ञानिक के लिए सिद्धान्त वास्तव में तथ्यों के बीच पाए जाने वाले अर्थयुक्त सम्बन्धों को दर्शाने वाला होता है। बिना किसी सम्बद्ध सिद्धान्त के सामाजिक शोध के लिए भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं और भविष्यवाणी करने की योग्यता के बिना विज्ञान की सार्थकता कुछ हो ही नहीं सकती। इस प्रकार सामाजिक शोध का विज्ञान निरीक्षणयोग्य उन तथ्यों पर ही निर्भर है जो कि सैद्धान्तिक तौर पर अर्थयुक्त हैं और सिद्धान्त व तथ्यों के बीच होने वाली निरन्तर अन्तःक्रियाओं के सन्दर्भ में ही सामाजिक शोध की कल्पना की जा सकती है।

सामाजिक शोध तथा सिद्धान्त के बीच का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है क्योंकि–

1. सिद्धान्त प्रयोगसिद्ध शोध के लिए आवश्यक सामग्री पर शोधकर्ता का ध्यान केन्द्रित करता है और यह बताता है कि किन–किन तथ्यों का वास्तव में संकलन करना है;
2. साथ ही, सिद्धान्त के माध्यम से ही हमें उस बोधगम्य योजना का पता चलता है जिसके द्वारा घटनाओं को व्यवस्थित, वर्गीकृत तथा अन्तःसम्बन्धित किया जा सकता है;
3. सिद्धान्त ही समस्त तथ्यों का एक संक्षिप्त सार प्रस्तुत करता है जिससे कि तथ्यों के सम्बन्ध में किसी वैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव होता है; और

4. सिद्धान्त की सहायता से घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना भी हमारे लिए सरल हो जाता है।

इस प्रकार सामाजिक शोध के क्षेत्र में सामाजिक सिद्धान्तों के कार्य स्पष्ट हैं। सिद्धान्त शोध के क्षेत्र को सीमित कर देता है जिससे कि शोधकर्ता का ध्यान इधर–उधर बँट न जाए। एक ही विषय का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से अथवा उसके विभिन्न पहलुओं के सन्दर्भ मे किया जा सकता है। सिद्धान्त एक समय में एक पहलू पर शोधकर्ता के ध्यान को केन्द्रित कर देता है। जब अनावश्यक तथ्यों का संकलन नहीं होता है तब तथ्यों का वर्गीकरण करना, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को ढूँढ़ना तथा कुछ निश्चित निष्कर्षों को निकालना शोधकर्ता के लिए सरल हो जाता है। यह सिद्धान्त का दूसरा कार्य है। सिद्धान्त का तीसरा कार्य सम्पूर्ण घटना की विशेषता या प्रकृति को अति संक्षेप में व्यक्त करना है। उदाहरणार्थ, 'गन्दी बस्तियों में अन्य स्थानों की तुलना में बाल–अपराधों की घटनाएँ अधिक होती है' यह सिद्धान्त बाल–अपराधों के कारणों का संक्षिप्त सार कहा जा सकता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर बाल–अपराध के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना भी कठिन नहीं होता है, जैसे हम यह कह सकते हैं कि 'यदि गन्दी बस्तियों का उन्मूलन न किया गया तो बाल–अपराध को समाप्त नहीं किया जा सकेगा।' इस प्रकार तथ्यों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना सिद्धान्त का चौथा कार्य हैं अन्त में, सिद्धान्त हमारे ज्ञान में पाई जाने वाली कमियों का उल्लेख करता है। चूकि सिद्धान्त घटना के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करता है, अतः यह भी बता सकता है कि उस घटना के सम्बन्ध में हमें क्या मालूम नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि सिद्धान्त गन्दी बस्तियों को बाल–अपराध के कारण के रूप में स्वीकार करता है तो वह यह भी बताता है कि गन्दी बस्तियों की किन अवस्थाओं के सम्बन्ध में और अधिक जानकारी की आवश्यकता है।[10]

निष्कर्ष

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्त के उपर्युक्त कार्य एक–तरफा नहीं होते हैं। अर्थात प्रयोगसिद्ध शोध के लिए केवल सिद्धान्त ही उपयोगी होता है, ऐसी बात नहीं है'; शोध भी सिद्धान्त के लिए कुछ कार्यों को करता है। इन कार्यों में सर्वप्रथम तो यह कि प्रयोग–सिद्ध शोध ही सिद्धान्त को परिष्कृत करता है। शोध के द्वारा हम कुछ प्रमाणसिद्ध तथ्यों को इस भॉति संकलित करते हैं जिससे कि एक घटना के सम्बन्ध में हमें वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त हो सके। यह ज्ञान उस घटना के सम्बन्ध में सिद्धान्त की जॉच करने तथा उनकी कमियों को दूर करने में सहायक सिद्ध होता है। और भी स्पष्ट रूप में प्रयोगसिद्ध शोध में जिन वास्तविक तथ्यों का संकलन किया जाता है वे तथ्य सिद्धान्तों की सत्यता की परीक्षा कर लेते हैं और उसमें पाई जाने वाली कमियों को दूर करते हैं। प्रयोगसिद्ध शोध का दूसरा कार्य यह है कि इसमे जिन तथ्यों का निरीक्षण किया जाता है वे तथ्य नए सिद्धान्तों को भी जन्म दे सकते हैं। इस सत्य को सभी स्वीकार करते हैं कि आकस्मिक तौर पर निरीक्षित एक तथ्य से भी कभी–कभी श्रेष्ठ सिद्धान्त का 'आविष्कार' हो जाता है। कम–से–कम फ्रायड के सिद्धान्त इस बात का प्रमाण हैं। प्रयोगसिद्ध शोध का तीसरा कार्य निरीक्षित तथ्यों के आधार पर विद्यमान विद्धान्त को या तो गलत प्रमाणित करना या उसमें आवश्यक परिवर्तन करके उसे वैज्ञानिक स्तर पर लाना है। प्रत्येक सिद्धान्त की निरन्तरता इस बात पर निर्भर करती है कि वह तथ्यों के साथ मेल खा जाए, यदि ऐसा नहीं है तो तथ्यों के अनुरूप सिद्धान्त को या तो परिवर्तित करना पड़ता है या उसे त्याग दिया जाता है। चूँकि शोध एक निरन्तर होने वाली क्रिया है, इस लिए नाना प्रकार के तथ्य निरन्तर सामने आते रहते हैं और उसी के अनुसार सिद्धान्तों को त्यागने और फिर से बनाने की प्रक्रिया चलती रहती है। उदाहरणार्थ, श्री दुर्खीम ने अनेक तथ्यों को एकत्रित करके यह प्रमाणित कर दिया कि आत्महत्या के सम्बन्ध में उनसे पहले के प्रचलित सभी सिद्धान्त गलत हैं और 'समूह का दबाव' या सामाजिक कारक आत्महत्या का कारण है। श्री दुर्खीम के बाद होने वाले शोधों से फिर श्री दुर्खीम के सिद्धान्त की अपर्याप्तता भी प्रकट हुई और उसे आवश्यक सुधार के साथ स्वीकार किया गया। अन्त में, शोध–कार्य के दौरान में संकलित तथ्य सिद्धान्तों को पुनःपरिभाषित तथा स्पष्ट करते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। सिद्धान्त में घटना के सम्बन्ध में सामान्य व संक्षिप्त रूपरेखा का वर्णन होता है, जबकि तथ्य उसी के विस्तृत विवरण को अधिक अर्थयुक्त ढंग से प्रस्तुत करता है जिसके फलस्वरूप सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण स्वतः ही होता जाता है।[11]

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्रयोगसिद्ध शोध तथा सामाजिक सिद्धान्त के बीच वास्तव में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है और व्यावहारिक रूप में वे एक–दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करते हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

Chapin - Experimental Design in Sociological Research
C.A. Moser-Survey Methods in Social Investigation, Heinemann, London, 1961, P-12
Emory S. Bogardus - Introduction to Social Research (1936), P-47
R.L. Ackoff - Design of Social Research, P- 15
R.L. Ackoff - Design of Social Research, P- 05
R.L. Ackoff- Design of Social Research, P- 05
Selltix, Johoda, Deutsch, Cook Research Methods in Social Relations, P-33.
W.J. Goode and P.K Hatt- Methods and Social Research, 1952. P-08
W.J. Goode and P.K Hatt - Methods and Social Research, 1952. P-128
W.J. Goode and P.K Hatt- Methods and Social Research, 1952. P-27